एम.ए.(हिन्दी) I प्रथम सेमेस्टर

डॉ. अनिरुद्ध प्रसाद
हिन्दी विभाग
रामरतन कॉलेज, आरा

30.08.20

हिन्दी साहित्य का इतिहास

तृतीय पत्र

प्रश्न : रीतिकाल की विभिन्न प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर : रीतिकाल की प्रवृत्तियों को समझने के पहले हमें 'रीति' को समझ लेना आवश्यक प्रतीत होता है। 'रीति' का तात्पर्य है — ढंग, शैली या बनावट। एक ही ढंग की रचनाओं की बहुलता ही रीतिकाल की विशेषता है। रीति का प्रयोग लक्षण ग्रंथों के लिए भी किया जाता है। जिन ग्रंथों में काव्य के विभिन्न अंगों का विश्लेषण किया जाता है उसे ही रीति-शास्त्र कहा जाता है। रीतिकाल के कवियों का दुहरा व्यक्तित्व होता है। पहले वह आचार्य होता है, बाद में कवि। इसलिए उस काल के कवियों में कवि-कर्म और आचार्य-कर्म दोनों एक साथ चलते थे। परिणाम स्वरूप यह हुआ कि संस्कृत के काव्य-शास्त्र की समृद्ध भूमिका पर इन्हें काव्य का निर्माण करना पड़ा। रीतिबद्ध कवियों ने काव्य-शास्त्र के आधार पर न केवल लक्षण प्रस्तुत किए बल्कि उदाहरण भी प्रस्तुत किए। इस प्रकार लक्षण और उदाहरण दो प्रकार की ग्रंथ-रचना इन कवियों ने की। एक बात ध्यान रखने की है कि इस काल कवियों ने सर्वप्रथम अपने कवित्व को प्रकाश किया, तत्पश्चात आचार्य-कर्म को।

रीतिकाल का विकास प्रायः राजाओं, रईसों के आश्रय में हुआ। अतः उनकी अभिरुचि और प्रेरणा का स्वभाव अनिवार्य था। राजाओं को खुश कर दिल बहलाने का या मनोरंजन करने का था। उस समय सम्पूर्ण देश का वातावरण विलास पूर्ण था। राजाओं और रईसों को संघर्ष की चिन्ता कम थी और अवकाश कहीं अधिक। सुरा, सुराही और प्याला के साथ कविता में भी विनोद एवं रस की गंगा बहती थी। अपनी संस्कृति को समृद्ध बनाने के लिए काव्य का रसास्वादन आवश्यक समझा जाता था।

P.T.O

रीतिकाल के कवियों की प्रवृत्ति साधारण जनता के सुख-दुःख की ओर न था, वे अपनी काव्यकला के बल पर बड़े-बड़े राजाओं और रईसों से सम्मानित और पुरस्कार पाने की अभिलाषा रखते थे। वस्तुतः रीति काव्य की आत्मा उसके काव्य में बोलती थी। इसमें वस्तु-तत्व कम होते थे और कला अधिक। इस प्रकार रीति काव्य पूर्णतः स्वांत और राजा-रानियों के साथ कला का व्यापार मात्र बनकर रह गया था। समाज सुधार एवं नैतिक भावना लुप्त हो चुकी थी। इस काल में मुख्यतः दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ उपलब्ध रहती हैं — (1) आचार्यत्व की भावना (2) शृंगार का निरूपण।

काव्य के क्षेत्र में यह रीतिकालीन कवियों की विफलता थी जो जीवन के व्यापक क्षेत्र की व्याख्या अपने काव्य में नहीं कर सके। संस्कृत शास्त्र की मौलिकता ने इन कवियों के विवेक पर ताला लगा दिया था। उनमें न सूक्ष्म विश्लेषण हो रहा था न ही कोई नया प्रयोग। रीति के नाम पर लक्षण ग्रंथों की भरमार देखने को मिलता है। इन ग्रंथों की रचना कोई पंडिताई के लिए नहीं था वरन रसिक समूहों के लिए केवल काव्यांग का परिचय मात्र था। इनमें से अधिकांश कवियों ने व्यापक रूप से काव्य शास्त्र का ज्ञान का अनुशीलन भी नहीं किया था। इन कवियों का रचना करने का उद्देश्य सिर्फ राजा, रईसों एवं रसिकों को काव्यांग का ज्ञान कराना मात्र था।

रीतिकाल के रीति ग्रंथों में तीन प्रकार की शैली देखने को मिलती है — (1) काव्य-कला के निरूपण की शैली जिसमें काव्यांगो पर प्रकाश डाला गया है। (2) शृंगार निरूपण की शैली जिसमें शृंगार के विभिन्न अंगो विशेषकर नायिका के भेदों का ही निरूपण किया गया है।

P. T. O

(3) चंद्रलोक की संक्षिप्त अलंकार निरूपण शैली जिसमें अलंकारों के संक्षिप्त उदाहरण दिए गए हैं।

रीतिकाल के इतने विस्तृत युग में कुछ ही आचार्यत्व के उपाधि को सुशोभित करने वाले कवि हुए जिनका प्रधान काव्य लक्षण, काव्य प्रयोजन, रसभाव, ध्वनि नायिका के गुण-दोष आदि का वर्णन करने की ओर गया है। बाकि के कवि अपने अपूर्ण ज्ञान एवं तर्कोपयोगी भाषा के अभाव में वह सफलता प्राप्त नहीं कर सके जिसके वे अधिकारी थे। जिन कवियों ने सफलतापूर्वक आलोचित भाव से काव्य का सर्वांग वर्णन किया उसमें — चिंतामणि, सेनापति, कुलपति मिश्र, ~~[illegible]~~ देव, एवं प्रताप सिंह प्रमुख हैं।

दूसरी श्रेणी के ग्रंथों में शृंगार-भावना की व्यापक प्रमुखता से दिखलाई पड़ती है। केशव की 'रसिकप्रिया,' मतिराम के 'रसराज', देव के 'भावविलास' पद्माकर के 'जगत विनोद' एवं बेनी प्रवीण के 'नव-रस शृंगार' आदि ग्रंथ शृंगारिक प्रवृत्ति के उत्कृष्ट ग्रंथ हैं। इस परंपरा का आदि रुद्रभट्ट के 'शृंगार-तिलक' एवं भानुदत्त के 'रस तरंगिनी' ग्रंथों में मिलता है। इन ग्रंथों में संयोग और वियोग दोनों पक्षों का सुन्दर निर्वाह हुआ है। संयोग वर्णन में नायक, नायिका, सखि, षड्ऋतुओं, विभाव-अनुभाव आदि भावों का मनोयोग से वर्णन हुआ है। वियोग पक्ष में सूक्ष्मतर भावनाएं, दशाओं और प्रवृत्तियों का वर्णन सांगोपांग ढंग से हुआ है। शृंगार वर्णन में नायिका भेद की उद्भावना प्रबल है। वास्तव में रीतिकाल की रचनाओं में वातावरण का सच्चा प्रतिबिम्ब इन कवियों में की रचनाओं में ही देखने को मिलता है।

तीसरी शैली चंद्रलोक और कुवलयानन्द के अनुकरण पर अलंकार शैली है। यह महाराजा

P.T.O

जसवन्त सिंह का भाषा-भूषण है। इसमें केवल नाम अलंकार का लक्षण और उदाहरण दिया गया है। इसी प्रकार हिन्दी साहित्य में अनेक ग्रंथ लिखे गए। सुरति मिश्र की 'अलंकार माला', भूपति का 'कण्ठाभरण', रघुनाथ का अलंकार-मणि-मंजरी आदि उत्कृष्ट ग्रंथ हैं। हिन्दी अलंकार ग्रंथों में शास्त्रकारों का महत्व अपेक्षाकृत कम है। इसका मतलब यह नहीं कि इनका झुकाव अर्थात् शास्त्रीयता की ओर ही अधिक है। वास्तव में इन अलंकार ग्रंथों का उद्गम 'चन्द्रालोक' से हुआ था जिसमें अनुप्रास आदि शब्दालंकारों की अवहेलना की गयी परन्तु हिन्दी में नामकार-प्रियता की सीमा कहाँ तक पहुँच चुकी थी इसका अनुमान सूरदास के ग्रंथ 'साहित्य-लहरी' को देखकर किया जा सकता है।

नैतिक आदर्शों की दृष्टि से रीतिकाल काम-वासनाओं की प्रवृत्ति के कारण आगे बढ़ रही थी। इस काल में प्रेम की अति-इन्द्रियता को साधन बनाकर उसे उज्ज्वल पक्ष से विहीन कर दिया था। इसी कारण रीतिकाल में प्रेम एकोन्मुखी भावना प्रधान हो गयी। स्त्री भोग-विलास की सामग्री समझी गई। इस प्रेम में कहीं आध्यात्मिकता की कोई पुट न था। इस प्रेम का स्वरूप गार्हस्थ्य न होकर मनोरंजन का साधन मात्र होकर रह गया था। इस प्रेम ने एक तरफ विलासिता दी दूसरी ओर अकर्मण्य बनाने का उपाय भी थी। यही कारण है कि रीतिकाल जन-जीवन से पूरी तरह कटा हुआ राज दरबारियों एवं रईसों के मन बहलाव का काव्य होकर रह गया है। इसमें न कहीं भक्ति का अलख जगाता हुआ कोई सूरदास दिखलाई पड़ता है न देश प्रेम की भावना जगाता हुआ कोई वीर। इस काल में ईश-प्रेम एवं भक्तिभाव की भावना भी लुप्त हो चुकी थी। यहाँ नायक को हरि और नायिका को राधा के नाम से पुकारा जाने लगा। हरि और राधा सुमिरन को बहाने हैं। ॥

P.G. II semester
III paper
"Ritikal ki Pravriti"